धरापुत्र कालिदास का पर्यावरण प्रेम

डॉ. दादूराम शर्मा

हमें एक बार सच्चे मन से सोचने की आवश्यकता है कि हम क्या किसी प्राणी को जीवन का उपहार या जीवन दान दे सकते हैं यदि नहीं तो प्रकृति से नैसर्गिक रूप से प्राप्त जीवन को समाप्त करने का अधिकार हमें किसने दिया? प्राणी के प्राणों की रक्षा प्राण-प्रण से की जानी चाहिए यह हमारी प्राचीन संस्कृति की थाती है, जहाँ पर मारने वाले से बढ़कर बचाने वाला है। परंतु इधर सब कुछ उलटा-पुलटा हो चला है। हम, जीवन को साँस देने वाले प्राण-वायु प्रदाता वृक्षों, पेड़-पौधों का निर्ममता से जीवन तबाह कर रहे हैं। आज जंगल-के-जंगल साफ हो गए हैं वहाँ जीवन निर्वाह और आश्रय पाने वाले पशु-पक्षी, मांसाहारियों का शिकार हो रहे हैं। मिथकों के चलते अनेक वन्य प्राणी इतिहास के पन्नों में सिमट कर रह गए हैं।

''अथर्ववेद'' के पृथिवी सूक्त के मंत्रद्रष्टा-ऋषि ने ''माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या''-धरती मेरी मां है और मै उसका बेटा हूं कहकर धरती और अपने मां बेटे के संबंधों की घोषणा की है इसलिए धरती हमारे लिए, हम भारतीयों के लिए भूमि मात्र भूमि नहीं, मातृ भूमि है तब धरती पर जन्में और जन्म लेने वाले समस्त प्राणी-चर (गतिशील या चलने वाले मनुष्य, पशु-पक्षी) और अचर (स्थिर रहने वाले वृक्ष लताएँ) उसके सहोदर भाई- बहन बन जाते हैं और सारा संसार ही एक परिवार बन जाता है। हमारी खुशी सबकी खुशी और सबकी खुशी हमारी खुशी तथा हमारा दुखः सबका दुखः और सबका दुखः हमारा दुखः बन जाता है। महाकवि कालिदास ने इन विचारों का जीवंत चित्र उकेरा है, उन्हें जीवंत कर दिया है, सिद्धांतों को साकार कर दिया है। रघुवंश महाकाव्य के अनुसार जब लोकापवाद के कारण गर्भवती सीता को निर्जन वन में अकेली छोड़ दिया जाता है तो वे दुःखी होकर आर्तनाद करने लगते हैं उनका आर्तनाद सुनकर समस्त वन भी शोक विह्वल हो जाता है- मोरों का नृत्य थम जाता है, पुष्पित वृक्ष फूलों के रूप में आँसू बरसाने लगते हैं, भूखी हिरिणियाँ घास चरना छोड देती हैं और मुँह में लिए घास को भी उगल देतीं हैं-

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षाः दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः।

तस्याः प्रपन्ने समदुखःभावमत्यंतमासीद्रुदितं वनेऽपि ।।

कालिदास ने इस तरह अपने विस्तृत काव्य-फलक पर बने प्रकृति के दृश्यों में अपनी सिद्ध-सफल तूलिका से नयन-विलोभन और हृदयावर्जक विभिन्न रंग तो भरे ही हैं, साथ ही, अचेतन प्रकृति को मानवीय भावनाओं में रंगकर उसे मानवोचित क्रिया-व्यापारों और आशा-आकांक्षाओं से सम्पृक्त करके सस्फूर्त, जीवंत और प्रेरणादायक भी बना दिया है। उन्होंने प्रकृति को मनुष्य की सुख-दुःख की सतत सहचरी के रूप में देखा है। कालिदास वस्तुतः भारत की उस संस्कृति के उद्‌गाता, पुरोधा और प्रस्तोता महाकवि हैं, जो अरण्यों (वनों) में जन्मी, फैली-फूली, फली और जिसने अपने विशाल क्रोड़ में समस्त मानव जाति को ही नहीं, सभी चराचर प्राणियों को भी सस्नेह समेट लिया है। नगर की सभ्यता उस आरण्यक संस्कृति के सम्मुख नतमस्तक है, भौतिकवाद और भोगवाद से उद्‌वेजित (ऊबा हुआ) नगरवासी जिसकी गोद में बैठकर अपने अतृप्त, अशान्त हृदय को जुड़ाता (शांत करता) है और आत्म आलोक एवं आत्मशान्ति पाता है। उनका काव्य भौतिकवाद और अध्यात्म का, सभ्यता और संस्कृति का, नगर और वन का एवं धरा और स्वर्ग का समन्वय करता चलता है। उनके विराट् परिवार के घेरे में मनुष्य और उनके पालित पशु-पक्षी ही नहीं, स्वाधीन वन्य प्राणी और अचेतन वृक्ष-लता भी आ गए हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि कवियों ने मेघ और

विद्युत जैसे प्राकृतिक उपादानों में भी अनुराग-तरलित जीवन डाल दिया है। जड़-चेतनमय विराट् विश्व की एक परिवार के रूप में यह परिकल्पना विश्व साहित्य में बेजोड़ है। संस्कृत में 'वन' का अर्थ-जंगल ही नहीं पानी भी होता है- ''वने सलिल कानने = 'वन' के दो अर्थ हैं जल और जंगल (अमर कोश) इससे दोनों का अन्योन्याश्रयत्व (एक दूसरे पर निर्भरता) सिद्ध होता है अर्थात् 'जल' है तो 'जंगल' है और 'जंगल है तो 'जल' है क्योंकि जंगल ही वर्षा के कारक बनते हैं, जल बरसाते हैं।

तपोवन बनाम अभयारण्य

प्राचीन भारत में पचास वर्ष की आयु तक गृहस्थ धर्म का सम्यक निर्वाह करने के उपरान्त लोक-संग्रही मानव सपत्नीक वानप्रस्थी हो जाते थे अथवा कुछ नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लेते थे, उन्हें ऋषि कहा जाता था। वे नगर के कोलाहल से दूर निर्जन वनों में आश्रम बनाकर रहते थे, जिन्हें 'तपोवन' की संज्ञा दी गयी थी। ये तपोवन स्वशासी होते थे, अपने उपयोग की समस्त वस्तुओं- अन्न आदि का स्वयं उत्पादन करते थे, राजकोष से उन्हें अनुदान भी मिलता था। तपोवन शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। इनके प्रमुख संरक्षक-संचालक 'कुलपति' कहलाते थे, जहाँ रहकर अनेक शिष्य निःशुल्क विद्याध्ययन करते थे। तपोवन अभयारण्य होते थे, जिनमें वन्य जीवों का आखेट वर्जित था। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का नायक राजा दुष्यन्त जिस मृग का शिकार करना चाहता था, वह आश्रम-मृग था और उसका पीछा करते-करते वह जिस वन में आ पहुँचा था, वह महर्षि कण्व का तपोवन था। अतः एक मुनि ने बीच में आकर हाथ उठाकर राजा को उस पर बाण चलाने से रोक दिया- ''राजन् आश्रम-मृगोऽयं न हन्तव्यो, न हन्तव्यः'' और राजा को उसके कर्तव्य का स्मरण कराया कि उनका शस्त्र तो पीड़ितों की रक्षा के लिए है, हरिण जैसे भोले-भाले निरपराध वन्य प्राणियों पर प्रहार करने के लिए नहीं- ''आर्त्तत्रणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।''

शिकार मांसभोजी जंगली मनुष्य की आवश्यकता हो सकती थी, किन्तु तथाकथित सभ्य शहरी मनुष्य का और विशेष रूप से राजाओं का वह सभ्यता के आदिम युग से ही विचित्र मनोविनोद का साधन या शौक रहा है। महाकवि ने उसकी सर्वत्र भर्त्सना की है। मृगया दुर्व्यसनी दशरथ शिकार को अपने शब्द बेधीबाण से बींध डालने के विचित्र शौक के कारण घड़े में जल भरते हुए मुनि कुमार श्रवण को जल पीते हुए हाथी के भ्रम में अपना निशाना बना लेते हैं और उसके अंधे-बूढ़े अपाहिज माँ-बाप का एकमात्र सहारा उनसे छीन लेते हैं। मनुष्य की मनुष्यता औरों का जीवन लेने में नहीं, उनका जीवन बचाने और उन्हें जीवनदान देने में है।

हमें एक बार सच्चे मन से सोचने की आवश्यकता है कि हम क्या किसी प्राणी को जीवन का उपहार या जीवन दान दे सकते हैं यदि नहीं तो प्रकृति से नैसर्गिक रूप से प्राप्त जीवन को समाप्त करने का अधिकार हमें किसने दिया? प्राणी के प्राणों की रक्षा प्राण-प्रण से की जानी चाहिए यह हमारी प्राचीन संस्कृति की थाती है, जहाँ पर मारने वाले से बढ़कर बचाने वाला है। परंतु इधर सब कुछ उलटा-पुलटा हो चला है। हम, जीवन को साँस देने वाले प्राण-वायु प्रदाता वृक्षों, पेड़-पौधों का निर्ममता से जीवन तबाह कर रहे हैं। आज जंगल-के-जंगल साफ हो गए हैं वहाँ जीवन निर्वाह और आश्रय पाने वाले पशु-पक्षी, मांसाहारियों का शिकार हो रहे हैं। मिथकों के चलते अनेक वन्य प्राणी इतिहास के पन्नों में सिमट कर रह गए हैं। वैसे मानव, शेर, बाघ जैसे पशुओं को निर्दयी मानता है परंतु इन पशुओं की खाल के लिए इनका अंधाधुंध शिकार करता है, परिणामतः ये जंगली जानवर निर्मूलता की कगार पर पहुँच रहे हैं। इस प्रकार मानव-जीवन के सह-अस्तित्व के संगी-साथी मानव द्वारा ही समाप्त किए जा रहे हैं और यह कार्य मानव अपनी नादानी के चलते कर रहा है। आज मानव अपने लिए खुद अपना शत्रु बनता जा रहा है। अपने को अलंकृत करने एवं साज-सज्जा के लिए कहीं बाघों, शेरों का, तो कहीं मृग छौनों का शिकार करता रहा है। इतना ही नहीं एक दाँत की प्राप्ति के लिए विशालकाय हाथी जैसे प्राणी के झुंडों-के झुंड को मौत के घाट उतार रहा है।

अति सर्वत्र और सर्वदा वर्जित रही है। आज हम इन्हीं भूलों गलतियों के चलते जलाभाव, पर्यावरण सम्बंधी आपदाओं यथा सूखा, बाढ़ से

आज हम पेड़-पौधों का निर्ममता से जीवन तबाह कर रहे हैं।

आक्रांत हो रहे हैं। अपने किंचित लाभ के लिए दूसरे के जीवन से खिलवाड़ नहीं करना चाहिए। इसका सुंदर और सजीव दृष्टांत महाकवि कालिदास ने शकुंतला के माध्यम से अपने काव्य में दिया है। उन्होंने बताया कि मनुष्य को अति स्वार्थी नहीं होना चाहिए। पेड़-पौधे, प्राकृतिक ऋतु चक्र से बंधे होते हैं वह प्रकृति के विपरीत आचरण नहीं कर सकते। पेड़, पौधे ऋतु आने पर ही फल देते हैं अतः ऐसा कदापि नहीं सोचा जाना चाहिए कि जब पौधा फल नहीं दे रहा है तो उसकी रक्षा या सिंचाई क्यों की जाए? उन्होंने शकुंतला के द्वारा फल-फूल-विहीन वृक्षों को सींचने का संदेश देकर बताया है कि हमें निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर आचरण एवं व्यवहार करना चाहिए। जब तक अनिवार्यता न हो तब तक फल, फूलों, लताओं, पुष्प आदि को, पेड़-पौधों से तोड़ा न जाए, उनमें भी जीवन है और वे भी दर्द महसूस करते हैं। नारी स्वभाव से ही आभूषण तथा लावण्य एवं सौंदर्य प्रिय

होती है फिर भी शकुंतला आभूषण प्रियता के बावजूद आश्रम के पौधों से फल-फूल और पत्तियों को तोड़कर अपने लिए श्रृंगार प्रसाधन नहीं बनाती, यही उदारता ही 'जियो और जीने दो' का पाठ पढ़ाती है। जीवन शब्द की उत्पत्ति ही जीवन और वन के संयोग से हुई है। अतः यदि वन ही नहीं बचेंगे तो फिर जीवन कैसे बचेगा। वृक्ष, जल चक्र का कारक होते हैं। वे पत्तियों के माध्यम से जल को वाष्पोत्सर्जन के रूप में वायुमंडल में भेजते हैं और फिर यही जल वर्षा के रूप में पुनः पृथ्वी के जीवन को समर्थ तथा समृद्ध करता है। ऋतुएं भी हमारे लिए अत्यंत उपयोगी हैं ग्रीम-ऋतु की गर्मी समुद्र तथा अन्य जल स्त्रोतों के जल का वाष्पन कर वायुमंडल को आर्द्रित करती है, यही कारण है कि गर्मी के बाद ही मानसून या वर्षा ऋतु आती है। यदि हमारे संगी-साथी पेड़-पौधों ने अपनी परोपकार की आदत नहीं छोड़ी तो फिर हम अपनी आदत के विपरीत आचरण क्यों कर रहे हैं? यह अहम् और विचारणीय प्रश्न है।

जैसे सभी जीवधारियों के प्राणों की रक्षा जल से होती है उसी प्रकार वनस्पतियाँ भी जल के संयोग से हरियाली एवं जीवन धारण करती हैं अतः समय-समय पर या एक निश्चित समय के बाद उनको सींचना आवश्यक एवं अनिवार्य है। कालिदास की काव्य-नायिका शकुंतला अपनी सखियों के साथ आश्रम के वृक्षों की नियमित देखभाल करती थी। पुष्पों से लदे वृक्ष उसे आह्लाद दिया करते थे। जब चारों तरफ पुष्पों से वन वाटिका सुरम्य हो जाती थी तो पेड़, पौधों की इस खुशी में वह भी वन-पर्व मनाया करती थी। जिनके फूलने-फलने का समय समाप्त हो जाता था, उन वृक्षों और लताओं को भी उसी स्नेह भाव से सींचती थीं।

वनों के आदमी के प्रति लगाव को कवि ने कण्व ऋषि के माध्यम से कहलाया है कि शकुंतला जब शादी के उपरांत अपने पति के घर को जा रही है, तो पेड़, पीले पतों के रूप में आँसू गिरा रहे थे, हिरणों ने भोजन करना बंद कर दिया था। ये सब इस बात के द्योतक हैं कि वन और जीवन एक दूसरे के सुख-दुख को समझते थे और सह अस्तित्व में सुमधुर जीवन-यापन करते थे। मानव वृक्षों को जल से सींचता था तो वृक्ष फल, फूल, कंद, मूल देकर मानवता का पोषण करते थे परंतु आज का मानव अति लोभी हो प्रकृति के विनष्टि के साथ-साथ अपने नाश का मार्ग प्रशस्त कर रहा है। यदि वन न

नदियां प्राणिमात्र, विशेषकर मनुष्य, का जीवन आधार हैं।

होंगे तो वर्षा न होगी और वर्षा न होगी तो जल के बिना जीवन न होगा और इससे भी पहले वृक्षों के अभाव में ऑक्सीजन या प्राणवायु न होगी तो मनुष्य का पल भर भी जीना दुश्वार हो जाएगा। इस तरह मानव और प्रकृति अन्योन्याश्रित हैं। इन सम्बंधों का सौहार्दपूर्ण रहना अनिवार्य है। वृक्ष केवल भोजन ही नहीं देते वे सुसभ्य कहलाने के लिए, मानव को तन ढकने के लिए वस्त्र भी देते हैं, जो कपास या रेशम इत्यादि के रूप में होते हैं।

इस तरह जानवर भी मानव की खेती-बाड़ी में सहायक रहे हैं। वे एक तरफ वाहन के रूप में प्रयोग में आते रहे हैं तो दूसरी तरफ दुग्ध, ऊन आदि देकर जीवन को मधुर बनाते हैं। प्राचीन काल में परिंदे संदेश वाहक का भी काम करते थे, तो चील, गिद्ध जैसे पक्षी, मृत जानवरों का मांसाहार कर मानव-जीवन को प्रदूषण और गंदगी से बचाते थे। मयूर-नृत्य मन को मोह लेता है। हिरणों के सुंदर नयन उपमा का कारक बने। जल जीव में मछली की आँख को भी मनोरम बताया गया है। अनेक प्रकार की मछलियाँ और जल-जीव सौंदर्य के लिए जाने जाते हैं। यह सब इस भूमंडल की विरासत हैं। अतः इनकी सुरक्षा और संरक्षण हमारी जिम्मेदारी बनती है। हमने पानी का मोल नहीं समझा तो आज उसका हमारे सामने संकट आ खड़ा हुआ है। इसी प्रकार मानव ने जहाँ-जहाँ अतिशयता का सहारा लिया, वहीं वस्तु और प्राकृतिक उपहार काल कवलित हो गया। गिद्ध जैसा पक्षी अपने वजूद के लिए लड़ रहा है। इस प्रकार पर्यावरण संतुलन खराब करने में सर्वाधिक मानव जनित कार्य कारक रहे हैं। अतः वह दिन दूर नहीं जब ये प्राकृतिक पेड़, पौधे और विभिन्न प्रकार के जीव-जंतु इतिहास में सिमट कर रह जायेंगे। हमें इस प्रश्न पर विचार करना होगा कि हम भावी पीढ़ी को विरासत में, क्या अभाव-ही-अभाव देंगे, क्या भावी पीढ़ियाँ अपने भूतकाल पर पश्चाताप के साथ-साथ हमें अपना पूर्वज कहने में ग्लानि महसूस करेंगी। समय रहते हमें चेतना होगा और पर्यावरण को बचाना होगा।

नदियाँ प्राणिमात्र, विशेषकर मनुष्य का, जीवन आधार हैं। वह हमारी धमनी और शिराओं की भांति हैं। यदि ये धमनी और शिराएं स्वस्थ न रहीं तो मानव शरीर स्वस्थ कैसे रहेगा? पेयजल और सिंचाई जल कहाँ से आएगा। समुद्र जलनिधि तो है पर

नदियाँ प्राणिमात्र, विशेष कर मनुष्य का, जीवन आधार हैं। वह हमारी धमनी और शिराओं की भांति हैं। यदि ये धमनी और शिराएं स्वस्थ न रहीं तो मानव शरीर स्वस्थ कैसे रहेगा? पेयजल और सिंचाई जल कहाँ से आएगा। समुद्र जलनिधि तो है पर उसके जल का सरल उपयोग अभी तक हम नहीं सीख पाए हैं। अतः जल स्त्रोतों का अनावश्यक प्रयोग बंद करें। आवश्यकता से अधिक तथा निष्प्रयोज्य रूप में किसी वस्तु का उपयोग बंद करें तभी भविष्य एवं भावी-पीढ़ी को हम कुछ सौगात दे पाएंगे।

उसके जल का सरल उपयोग अभी तक हम नहीं सीख पाए हैं। अतः जल स्त्रोतों का अनावश्यक प्रयोग बंद करें। आवश्यकता से अधिक तथा निष्प्रयोज्य रूप में किसी वस्तु का उपयोग बंद करें तभी भविष्य एवं भावी-पीढ़ी को हम कुछ सौगात दे पाएंगे।

महाकवि की सजल जलधर के लिए माँ वसुन्धरा के दुग्धस्त्रावी स्तनाग्र या स्तनमुख की परिकल्पना कितनी सटीक है ! माँ स्तनपान कराकर अपने शिशु का पोषण करती है तो धरती माता का स्तन जलद जलवृष्टि करके वनस्पतियों को नवजीवन देता है, प्राणियों के लिए घास और मनुष्यों के लिए अन्न उत्पन्न करता है। इसीलिए कल्लोल करती नदियाँ उसके जीवन का जयघोष करने लगती हैं।

भारत जब तक इस आरण्यक संस्कृति का उपासक रहा, यहाँ कभी अनावृष्टि की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई। जलद यथेष्ट जलवृष्टि करके उसकी उर्वरा भूमि को शस्य-श्यामला बनाते रहे। परन्तु ज्यों ही नगर सभ्यता उस पर हावी हुई, नगर के तथाकथित सभ्य मानव ने इस आरण्यक संस्कृति को आदिम वनवासी मनुष्य की वन्य विकृति मानकर त्याग दिया, उसका आध्यात्म लाभ का चरम लक्ष्य भौतिकवाद में ही सिमट गया, शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता अस्वीकार कर दी गयी और 'शरीर' 'ब्रह्म' के उपासक सभ्य मानव ने अपने शरीर की सुख-सुविधाओं के संसाधन बटोरने में ही अपने ऐहिक जीवन की सार्थकता मान ली तब प्रकृति से उसके पारिवारिक अनुराग का पूर्वोक्त सूत्र विच्छिन्न हो गया, हृदय पर मस्तिष्क हावी हो गया और उसने न केवल प्रकृति से अपना नाता तोड़ा अपितु वह उसे अपनी भौतिक उपलब्धियों का सामान्य-सा साधन मानकर उसका निर्दयता से दोहन करने लगा, उस निर्मम-निर्दय ग्वाले की तरह जो अपनी दुधारू गाय का दूध तो उसके पैर साँधकर (बांधकर) और उसे डंडा मार-मारकर दुहते जाता है किन्तु उसे पौष्टिक हरी घास नहीं खिलाता। तब गाय पैर फटकारती है, सिर हिलाती है और कूद जाती है। दूध उसके पास होगा, तब न वह देगी। प्रकृति का निर्ममतापूर्वक दोहन करते मानव ने भी पाया प्रकृति का भीषण प्रकोप-अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़, सूखा, भूकम्प और भीष्म ग्रीष्म सुरसा की भाँति लगातार मुँह फैलाती जनसंख्या का अप्रत्याशित विस्फोट, कटते वन, उजड़ते ग्राम, कल-कारखानों का फैलता विकराल जाल, अन्न पैदा करने वाले खेतों पर खड़े होते अनगिनत मकान, हल चलाने वाले हाथों में गैंती-फावड़े, सीमेंट-रेत से भरे तसले और करनी तथा इस तरह नगरों का निरन्तर विस्तार, आम्रकूटों और तरूशिखरों का चीरहरण करके उन्हें 'शिलाकूट' बना दिया गया। तब मेघ आते भी हैं तो उन पर विश्राम नहीं करते या थोड़ी देर ठहरकर उनकी दयनीय दशा पर आँसू टपकाकर जाने कहाँ अदृश्य हो जाते हैं! हमने अपनी शेष सीमित भूमि को मशीनों से जोतकर, बोकर और उसे भूमिगत जल से सींचकर अन्न उपजाने में सफलता पायी तो हम फूले न समाये। हम भूल गये कि वर्षा के अभाव में भूमिगत जल कब तक हमारी आवश्यकताओं की आपूर्ति करेगा, उसका कोष रिक्त न हो जायेगा। क्योंकि वर्षा का जल धरती सोखती है और अपने गर्भ में (भूगर्भ में) जल सिंचित करती है। जरा सोचिए यदि वर्षा ही न हो या कम हो तो भूमिगत जलकोष कैसे संचित होगा, तब हमारे नलकूप भी तो सूख जाएंगे। आज इसीलिए कम वर्षा होने से कई बोर सूखते जा रहे हैं, जहाँ पहले खनन करने पर 40-50 फुट में पानी निकल जाता था। अब सैकड़ों फुट पर भी पानी नहीं मिल पा रहा है।

वनस्पति-विहीन प्रकृति और बढ़ता हुआ प्रदूषण, सोचो मेरे वैज्ञानिकों, विचारो मेरे विचारकों, चिन्तन करो अपनी मानव जाति की चिन्ता करने वाले चिन्तकों, क्या हमारी अस्मिता के उद्गाता राष्ट्रकवि कालिदास द्वारा प्रशस्त पथ-समस्त चराचर प्रकृति के साथ रागात्मक पारिवारिक सम्बन्धों की पुनः स्थापना के अतिरिक्त हमारी अस्तित्व-रक्षा का कोई और मार्ग है? ये कटते पेड़ रो-रोकर पुकार रहे हैं, मानव जाति के भावी सर्वनाश के प्रति हमें सचेत कर रहे हैं।

सभ्यता के अरूणोदय से ही
अपनी वाटिका में तुमने हमें लगाया है
और अपने हाथों से सींच-सींचकर हमें बढ़ाया है।
एक दूसरे के पालक और पालित का,
संरक्षक-संरक्षित का
यह अटूट रिश्ता हमने सदियों से निभाया है।
फिर आई हमारे शवों पर पली-बढ़ी मशीनी सभ्यता।
उजड़े वन, बसे नगर, लगे कल-कारखाने,
उठ गए हमसे बहुत ऊँचे तुम सभ्यता के दीवाने
कारखाने करने लगे, नदियों का जल दूषित
चिमनियाँ और वाहन उगल रहें धुआँ अविरल
उनकी कर्ण भेदी ध्वनि कर रही सबको विकल
तुम्हारे प्रश्वास से भर गया वायु कर्ण मंडल !
होकर प्रदूषित अब खो बैठा संतुलन
हमारे अभाव में, हमारे चिर-सहचर
घिरते नहीं नभ में, अब पूर्ववत् जलधर
घिरें भी तो बरसे बिना, जाने कहाँ उड़ जाते
और चर-अचर सब तरसते रह जाते
इस तरह काटकर हमें, काट लिया अपना मूल
कितनी महँगी पड़ी तुम्हें मानव! तुम्हारी भूल?
आओ-फिर रोपो हमें, करो फिर हमसे प्यार
पर्यावरण-परिशुद्धि का सौंपो सब हमें भार
होगा ज्यों-ज्यों धरती पर हमारा विस्तार
त्यों-त्यों खुलेगा तुम्हारा उद्धार-द्वार
भाई मनुष्य। भाई मनुष्य।

काश, हम पेड़ों का यह आर्त नाद, उनका यह करूण क्रन्दन सुन पाते!

संपर्क करें:
डॉ. दादूराम शर्मा
महाराज बाग, भैरवगंज
सिवनी, जिला-सिवनी (म.प्र.)-480 661
मो.08878980467